से एक दूसरे को सम्बोधित करते थे– कई लोगों ने जयहिंद सम्बोधन को भी खूब प्रेम से अपनाया था पर आज की हमारी युवा पीढ़ी के बीच 'हाय' और 'हलो' सम्बोधनों के साथ रिश्तों में भी कैसा अजीब परिवर्तन हो गया है. कोई 'भारतमाता' भी होती है यह बात तो उनकी सोच से बहुत परे की बात है. यों तो बात छोटी-सी और बेमानी लगती है पर यह पक्की बात है कि हमें आने वाली पीढ़ियों में अपनी संस्कृति, अपने देश और अपनी माता के प्रति प्रेम के संस्कार, फिर जगाने हैं.

बच्चों का जिस उम्र में व्यक्तित्व बनना शुरू होता है, चरित्र निर्माण होने लगता है उसी उम्र से यानी कम से कम कक्षा पांच से लेकर कक्षा दसवीं तथा बारहवीं तक के पाठ्यक्रम में तो प्रदीप जी जैसे रचनाकारों को ज़रूर शामिल किया जाना चाहिए. एकदम सरल और सीधी भाषा में गहरी से गहरी बात इस तरह हृदय तक पहुंचा देते थे प्रदीप जी कि बेमिसाल प्रभाव होता था. कैसी आसानी से कह दिया प्रदीपजी ने–

मंदिर में हैं भगवान, वो मसजिद में खुदा है
किसने कहा हिंदू से मुसलमान जुदा है!
बोलो हर हर महादेव, अल्ला हो अकबर!

इकबाल ने लिखा था, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, आज इस 'कुछ बात' को बचाये रखने की ज़रूरत है– और इस ज़रूरत को पंडित प्रदीप जैसे रचनाकारों के माध्यम से पूरा किया जा सकता है. ❑

पेरिस का सौभाग्य

पेरिस शहर का सबसे बड़ा सौभाग्य यह है कि यहां कभी बम नहीं गिरा. द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान लंदन शहर जर्मन बम बरसने के कारण चकनाचूर हो गया था किंतु पेरिस सुरक्षित रहा. शत्रु भी इस शहर से प्रेम करते हैं. लगता है फ्रांसीसियों ने अपने अत्यंत गर्व के केंद्र इस शहर को बचाने के लिए पहले ही हिटलर के सामने हार स्वीकार कर ली थी. बाद में अमेरिकनों ने भी शत्रु द्वारा अधिकृत इस नगर रूपी सुंदरी को आहत नहीं करना चाहा. जर्मनी में भी फ्रैंकफुर्त शहर को एक बार मित्र सेनाओं ने बम फेंक-फेंककर एकदम धूल में मिला दिया था, किंतु पास स्थित हाइडेलबर्ग शहर को वे ध्वस्त करने नहीं गये. हाइडेलबर्ग शहर भी इतना सुंदर और विरासत सम्पन्न है कि उसे नष्ट करने में शत्रु के ही हाथ कांप उठे थे.

– सुनील गंगोपाध्याय

खिड़की से जो दिख रहा है...

• कृष्ण कुमार

हमारे देश का संविधान एक ऐसे समाज का सपना देता है जहां सामाजिक सद्भाव और शांति का आधार न्याय होगा, समता होगी. मुख्य बात हमारे संविधान में यही है. यानी कि एक ऐसा राज्य जहां पर कि शांति कानून और व्यवस्था की वजह से नहीं बल्कि न्याय की वजह से और राज्य में न्याय देने की क्षमता में आस्था की वजह से होगी. और इस उद्देश्य के लिए संविधान एक परिवर्तनकारी भूमिका शिक्षा को देता है. इस दृष्टिकोण से देखें तो संविधान बहुत स्पष्टता से निर्धारित कर देता है कि शिक्षा को किन मूल्यों के लिए और किन आदर्शों के लिए काम करना चाहिए. ये हमारे संविधान के बिल्कुल शुरुआती हिस्से में इतने सुंदर ढंग से रखे गये हैं कि इनको पढ़ के हम शिक्षा की भूमिका को भारत के समाज के संदर्भ में बड़ी आसानी से पहचान सकते हैं. एक ऐसे समाज की कल्पना वहां की गयी है, जहां का हर व्यक्ति नागरिक होगा. यानी उसको अपने देश को चलाने की प्रक्रिया में सोच समझकर भागीदारी करने का अधिकार होगा. सिर्फ अवसर नहीं होगा, बल्कि अधिकार होगा. यानी एक ऐसे समाज की वो परिकल्पना है जहां हर व्यक्ति अपने दिमाग से सोच सके, अपने निर्णय खुद ले सके. किसी के दबाव में नहीं. न ही किन्हीं परम्पराओं के दबाव में, बल्कि अपने दिमाग से, अपने विवेक से सोच सके और अपनी भावना से सामाजिक कार्यों में देश के निर्माण में जुड़ सके. तो यहां एक ऐसे लोकतांत्रिक व्यक्तित्व की कल्पना है जो किसी के सोचे हुए सच का मोहताज नहीं है जो अपना रास्ता खुद बना सकता है. जिसमें आत्मनिर्भरता है, बौद्धिक स्तर की भी और उपार्जन के लिए भी. अगर आप इन दोनों दृष्टिकोणों से देखें तो ऐसे एक लोकतांत्रिक नागरिक का निर्माण करना ही संविधान की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य उभरता है.

इसमें जो सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू है कि एक बच्चा जन्म से ही जिन स्वाभाविक क्षमताओं के साथ पैदा होता है उन स्वाभाविक क्षमताओं का आदर शिक्षा व्यवस्था कर सके और उन क्षमताओं को इस हद तक बढ़ा सके कि वो एक लोकतांत्रिक समाज में

सामूहिक भागीदारी के साथ काम करने की क्षमता उस बच्चे में विकसित की जा सके.

अब अगर आप इस दृष्टिकोण से थोड़ा और आगे बढ़ें तो बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि हमारी आज की जो शिक्षा व्यवस्था है उसमें ऐसे कौन से तत्त्व हैं, उसके चरित्र में ऐसी कौन-सी कमज़ोरियां हैं जो हमें संविधान द्वारा निर्धारित इस उद्देश्य को पाने की दिशा में आगे बढ़ाने की जगह कुछ रोकती हैं या अवरुद्ध करती हैं? ऐसी कौन-सी कमज़ोरियां हैं? इनकी अगर फेहरिस्त बनायें तो बड़ी आसानी से हमारा ध्यान इस बात की ओर जाएगा कि हमारी शिक्षा व्यवस्था दरअसल एक ऐसे युग में स्थापित हुई जब लोकतंत्र की ऐसी परिकल्पना नहीं थी. यानी वह युग था उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का. जब भारत में अंग्रेज़ी शासन था, जिसको औपनिवेशिक शासन कहते हैं, जो थोड़े-से लोगों की मदद से एक औपनिवेशिक किस्म का शासन चलता था, जिसमें भागीदारी का प्रश्न नहीं था. ये जो पूरी औपनिवेशिक प्रक्रिया है ये अन्य क्षेत्रों में राष्ट्रवादी आंदोलन से प्रभावित हुई. उसके दबाव में धीरे-धीरे उसमें परिष्कार हुआ और अगर आप उन्नीसवीं सदी के मध्य से लेकर के और आज़ादी के मिलने तक के इन सौ वर्षों का नज़ारा लें तो देख सकते हैं कि कितने बड़े सामाजिक परिवर्तनों से राष्ट्रवादी आंदोलन ने हमारे समाज को गुज़ारा. एक नयी चेतना को जन्म दिया, जो राज्य के ढांचे को लोकतंत्र के निर्माण के लिए तैयार करने के लिए छटपटा रही थी. इसीलिए आज़ादी में एक गहरा सांस्कृतिक परिवर्तन का नक्शा और सपना देख सकते हैं जिसको संविधान ने शब्द दिये हैं.

शिक्षा व्यवस्था के साथ एक झंझट दिखलाई देता है कि जिन सुधारों की ज़रूरत शिक्षा व्यवस्था को थी, एक औपनिवेशिक प्रक्रिया से निकलकर, एक लोकतांत्रिक प्रक्रिया बनने के लिए उन सुधारों के अमल में बहुत परेशानियां आयीं. ऐसा नहीं है कि कोई सुधार नहीं हुआ. लेकिन अगर हम कुछ बुनियादी मुद्दों पर सुधारों की बात करें तो हमें लगेगा कि आज़ादी के बाद जो पहला राष्ट्रीय आयोग बना था, मुदलियार आयोग, जिसका मुख्य फोकस माध्यमिक शिक्षा पर था, उसके नज़रिए से अगर देखें, 1652-53 का यह आयोग है, तो ऐसा लगता है कि उसमें शिक्षा व्यवस्था की कुछ बुनियादी कमज़ोरियां परिलक्षित हुईं, पहचानी गयीं लेकिन उनको सुधारने के लिए जितनी बड़ी मुहिम या कि जिस तरह की एक इच्छा–शक्ति की आवश्यकता थी उसकी कमी बनी रही. आज जब हम लोग राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, जो 2005 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड द्वारा स्वीकार की गयी है, उसके संदर्भ में बात करते हैं तो हम उन सभी कमज़ोरियों को दुबारा एक तरह से सुधार के एजेंडा पर लाने की बात कर रहे हैं. इनमें से सबसे बड़ी कमज़ोरी है बच्चे के

दृष्टिकोण से पढ़ाई को संचालित न कर पाने की हमारी विवशता. हमारी व्यवस्था में बच्चा एक प्रकार से फिट होने के लिए, किसी मशीन में फिट होने के लिए, एक पुर्जा बनाया जाता है. ये औपनिवेशिक युग से चली आ रही व्यवस्था है जिसमें हम बच्चे की स्वाभाविक रुचियों, स्वाभाविक क्षमताओं, उसकी अपनी रफ्तार, उसकी अपनी दिशा की कद्र नहीं करते. बल्कि हम सोचते हैं कि जितनी जल्दी ये व्यवस्था में फिट हो जाए, उतना ही अच्छा होगा. तो इस प्रक्रिया में बच्चे की अपनी जो स्वाभाविक कल्पनाशक्ति होती है और हर अनुभव से सीखने की जो क्षमता होती है, चाहे वह अनुभव स्वाभाविक हो या कोई और उसको दे रहा हो, इस स्वाभाविक क्षमता को विकसित करने की जगह हमारी व्यवस्था के कुछ पहलू ऐसे हैं जो कि उसको एक तरह से कुचलते हैं या हतोत्साहित करते हैं. और अगर ये पूरी प्रक्रिया हम देखना चाहें तो कक्षा एक में या कक्षा दो में किसी स्कूल में बैठकर देख सकते हैं. यह वह समय है जब बच्चा पहली बार स्कूल आया है. वहां की जो औपचारिक रीतियां हैं, जो तौर-तरीके हैं, उनमें वे अभी बंधा नहीं है उसमें एक स्वाभाविक ऊर्जा है, एक प्राकृतिक क्षमता है. उसके शरीर में कई तरह की ऊर्जाएं हैं. शरीर का हरेक अंग संचालित करने की उसकी इच्छा रहती है. वह पेड़–पौधों की दुनिया में, फलों की, जानवरों की दुनिया में सहज रुचि लेता है.

> ये औपनिवेशिक युग से चली आ रही व्यवस्था है जिसमें हम बच्चे की स्वाभाविक रुचियों, क्षमताओं, उसकी रफ्तार, उसकी दिशा की कद्र नहीं करते.

कक्षा की चारदिवारी एक तरह का बंधन होता है, चार साल के बच्चे के लिए पांच साल के बच्चे के लिए. जब हम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के पहले ही सिद्धांत पर गौर करते हैं तो हम देखते हैं कि बच्चे के इस स्वभाव में और स्कूल की व्यवस्था में एक बुनियादी अंतरर्विरोध है. स्कूल चाहता है कि बच्चा चुपचाप पांच-छह घंटे वहां पर बैठे और एक के बाद एक जो पीरियड लग रहे हैं, उनमें जो बातें उसको बतायी जा रही हैं, उनको ग्रहण करे, सीखे. और उनको याद कर ले और याद करने के बाद जब इम्तिहान में वो बातें पूछीं जाएं तो उनको ज्यों का त्यों बता दे. दूसरी तरफ बच्चा चाहता है कि जो बदलती हुई ऋतुएं हैं उनमें वह पेड़ों को देखे. चीटियों को देखे, कीड़े-मकोड़ों को देखे. हवाओं में जो परिवर्तन हो रहे हैं उनको अपनी त्वचा पर महसूस करे. भागे-दौड़े. रात को चांद खिलता है, उसकी कलाओं को खुद देखे. सितारों को देखे.

एक बच्चे में असीम जिज्ञासा होती है दुनिया को समझने की. जो हमारा नया राष्ट्रीय दस्तावेज़ है, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, वो शुरू ही इस बात से होता है. पहले सिद्धांत के तौर पर वह कहता है कि बच्चे की स्कूल के बाहर की जो ज़िंदगी है, घर की ज़िंदगी है, आस-पड़ौस की ज़िंदगी है उस ज़िंदगी को स्कूल की ज़िंदगी से जोड़ा जाए. यानी स्कूल के बाहर जो हो रहा है, खिड़की से जो दिखाई दे रहा है वह बच्चे के लिए जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही वह स्कूल के अध्यापक के लिए महत्त्वपूर्ण बने. स्कूल की परिधि में जो गतिविधियां चल रही हैं, जिनका उद्देश्य पाठ्यक्रम में निर्धारित किया है, उन गतिविधियों को बच्चे के इन स्वाभाविक अनुभवों से जोड़ा जाए. यानी कि बच्चे को लगे कि जो उसने बाहर देखा, बाहर सुना, वह मैं इस कक्षा में भी कह सकूं. और जब वह कहे तो उसकी कद्र की जाए. यहां से भाषा शिक्षण की शुरुआत होती है, यहां से गणित की शुरुआत होती है, यहां से सामाजिक विज्ञान की या पर्यावरण विज्ञान की शुरुआत होती है– बच्चे के अपने अनुभवों से.

हमारी शिक्षा व्यवस्था में आज यह कमज़ोरी है कि बच्चों के अपने अनुभवों को, उनकी अपनी स्वाभाविक भाषा को अपनी स्वाभाविक बोली को, जुबान को बहुत जल्दी एक मानक भाषा में या एक मानक सोच के सांचे में हम ढाल देना चाहते हैं. हम अपनी व्यवस्था में एक छोटे बच्चे और किशोर में फर्क नहीं कर पाते. हालांकि शिक्षक सीखते ज़रूर हैं शिक्षक प्रशिक्षण में, कि बाल मनोविज्ञान ऐसा होता है, शिशु ऐसा होता है, किशोर ऐसा होता है, लेकिन जब वे कक्षा में पहुंचते हैं तो इन मुद्दों पर अमल नहीं करते. इसलिए भी नहीं करते, क्योंकि वे जब बीएड में ये सब सीखते हैं तो उनका उद्देश्य भी वही होता है, जो शिक्षा व्यवस्था का होता है. यानी कि बीएड पास करना, अच्छे नम्बर लेना. यानी वहां शिशु मनोविज्ञान और किशोर मनोविज्ञान के प्रश्नों का सही उत्तर दे दें तो आपको नम्बर मिल जाते हैं. लेकिन यह विचार नहीं होता है कि इस बात को हमें कक्षा में अमल में लाना है. जब कक्षा में वे पहुंचते हैं तो उनको लगता है कि कक्षा का पांच, छह साल का बच्चा जो ज़बान बोल रहा है, वह तुरंत मानक भाषा में आनी चाहिए. उसकी गलतियों को बस आज ही ठीक कर देना है. जब वह लिखना सीख रहा है तो उसकी गलतियां ही शिक्षक को दिखलाई देती हैं. जब वह पढ़ना शुरू करता है तो लगता है कि उसका उच्चारण आज ही सही हो जाए. यानी कक्षा एक-दो में, ये जो आरंभिक वर्ष हैं शिक्षा के इन दो वर्षों में हमें बच्चों को इस तरह से देखना है कि वे अपनी प्राकृतिक क्षमताओं के साथ आये हैं. और इन प्राकृतिक क्षमताओं को पहचान के उन्हीं को संवारना, उन्हीं को निखारना, उन्हीं को प्रोत्साहित करना, हमारी शिक्षा का उस समय उद्देश्य होना चाहिए.

अगर उस उद्देश्य का हम उस समय पालन कर सकें, इसकी दिशा में बढ़ सकें, तो पांचवीं तक या छठी तक आते आते वह बच्चा एक उज्ज्वल प्राणी होगा. वह चुप नहीं बैठेगा, बल्कि भागीदार बनेगा हमारी चर्चाओं का. और जब हम ज्ञान की, गणित की, सामाजिक विज्ञान की अवधारणाएं पढ़ाएंगे उसको, तो उन अवधारणाओं को तोलेगा. अपने विवेक से जांचेगा. जब वह और भी आगे बढ़ेगा, यानी उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं में पहुंचेगा जहां उसे ज्ञान की काफी बड़ी चुनौतियों का सामना करना है, उस समय वह फिर शिक्षक के बताये गये सत्य का ही मोहताज नहीं रहेगा. बल्कि अपने दिमाग से सोचेगा. नये-नये स्रोतों को ढूंढ़ेगा. सिर्फ पाठ्यपुस्तक पर निर्भर नहीं रहेगा. वह पाठ्यपुस्तक से शुरू होकर के तमाम अन्य स्रोतों की तरफ बढ़ेगा. यदि हमने एक बच्चे की स्वाभाविक क्षमताओं को और अपना निर्णय खुद लेने की क्षमता को कुचलने की जगह प्रोत्साहित किया तो किशोर बनते बनते वह एक ऐसा बच्चा बनेगा जो तय कर सकेगा कि मुझे कौन-से विषय पढ़ना है, ज़िंदगी में क्या करना है. यानी अपनी शिक्षा का उद्देश्य वह खुद सोच सकेगा.

आज की तारीख में हम देखते हैं कि बच्चे अक्सर माता-पिता के दबाव में आ जाते हैं. माता-पिता भी एक स्टीरियो टाइप ढंग से सोचते हैं कि इसको इंजीनियर बनाना है, डॉक्टर बनाना है. और हमारे युवक भी, पीएचडी स्तर तक आते-आते पूछते हैं कि पीएचडी किस टॉपिक पर करें. जो हायर सैकंडरी का बच्चा है वह जानना चाहता है कि हम विषय कौन-सा लें. ये सारी चीज़ें दिखाती हैं कि अपना उद्देश्य खुद बनाने की इच्छा और उस उद्देश्य के लिए खुद अपनी ऊर्जा से काम करने की जो एक क्षमता है, वह हम विकसित नहीं कर पाते. अगर हम एक ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहां बच्चों की ये क्षमताएं बचपन से ही हम संवारेंगे, उनको निखारेंगे तो आगे चलकर ऐसी स्थिति नहीं आयेगी.

आज हमारे सामने एजूकेशनल टेक्नोलॉजी का एक बहुत बड़ा संसार खुला हुआ है. प्रकृति का संसार तो है ही. उसके अलावा जो बड़े हैं हमारे समाज में उनसे सीखना, जानना, विभिन्न प्रकार की पुस्तकें देखना. ये तमाम स्रोत तभी उसके लिए खुलेंगे अगर उसकी जिज्ञासा को, उसकी स्वाभाविक क्षमता को हमने कक्षा एक और दो में कुचल नहीं दिया है. अगर उस समय हम थोड़ा-सा पीछे रहें और बच्चे को आगे करें, तो बहुत-सा आगे का रास्ता हमारे लिए भी आसान हो जाएगा. जब हम कक्षा ग्यारह-बारह में पहुंचते हैं जहां अनुशासन की बड़ी-बड़ी समस्याओं की चर्चा आजकल शिक्षक करते हैं, वे समस्याएं बहुत कुछ अपने आप दूर हो जाएंगी. क्योंकि बच्चे के भीतर से यह इच्छा होगी कि वह सीखे, जाने, संसार को समझे और उसके लिए

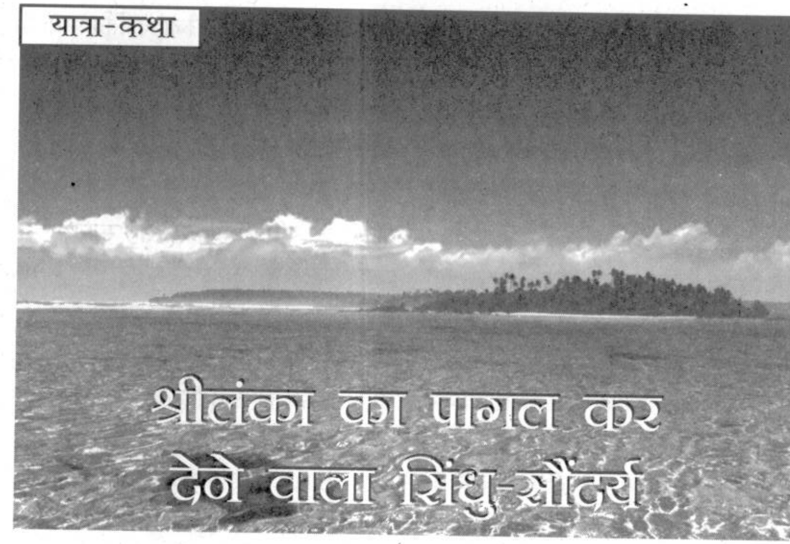
जिस-जिस तरह के उपकरण, जिस-जिस तरह के स्रोत उपलब्ध हैं उनकी तरफ वह स्वयं लालायित होगा. आज की शिक्षा की इस कमज़ोरी को, कि वह इतनी रिजिड है, बंधी हुई है नियमों से कि हम खुद भी डरते हैं कुछ नया करने से और बच्चे को भी डराते हैं नया करने से. इसलिए बावजूद इसके कि हम अन्य तमाम क्षेत्रों में भारत को आज एक नयी तरह की दिशाओं में बढ़ता हुआ देखते हैं, शिक्षा में हम नहीं कर पाते हैं, क्योंकि हम नवाचार से एक तरह से संकोच करते हैं, डरते हैं. और इसी प्रवृत्ति को हम बच्चों में भी उत्पन्न करते हैं. इस कमज़ोरी को हम दूर कर सकें तो ये जो संविधान ने निर्धारित किया है उद्देश्य, एक लोकतांत्रिक समाज बनाने का और उस समाज के लिए ऐसा नागरिक बनाने का जो खुद अपने दिमाग से सोच सकता हो, निर्णय ले सकता हो, जिसको दुनिया के किसी भी जटिल प्रश्न से डर न लगता हो, जो प्रश्नों से भागता न हो बल्कि उनसे जूझता हो, पूरा हो सकता है. तब एक नागरिक बनेगा. ❑

रोने का अधिकार

1960 में जब मैं तीसरी कक्षा का विद्यार्थी था तो हमारे स्कूल वाले पीड़ा-प्रदर्शनी के लिए हमें एक टूर पर ले गये जहां हम अपने अध्यापक के निर्देशन में फूट-फूट कर रोये. अपने अध्यापक की सुविधा के लिए मैंने गालों से आंसू पोंछे नहीं और मैंने देखा कि मेरे कुछ सहपाठियों ने अपने हाथ में थूक कर उसे अपने चेहरे पर आंसू जैसा दिखाने के लिए रगड़ लिया. उन सब रोते छात्रों में– कुछ सच्चे, कुछ झूठे– मैंने एक छात्र को देखा जिसका चेहरा बिल्कुल सूखा था और जो अपना चेहरा हाथों में बिना छिपाये चुपचाप बैठा रहा. यात्रा के बाद मैंने अध्यापक को उसके बारे में बताया और उसे अनुशासनात्मक चेतावनी दी गयी. बरसों बाद जब मुझे उस छात्र के बारे में बताने पर पछतावा हुआ तो अध्यापक ने बताया कि कम से कम दस छात्रों ने वैसा ही किया था, जो मैंने किया. दस साल या और पहले उस लड़के का निधन हो चुका था और उसकी याद से मेरी आत्मा बहुत विचलित होती. लेकिन इस घटना से मुझे एक सीख मिली और वह यह कि जब तुम्हारे चारों ओर हर कोई रो रहा हो, तो तुम्हें न रोने का पूरा हक है. जब आंसू प्रदर्शन के लिए ज़रूरी हैं, तब भी तुम्हारा न रोने का अधिकार महत्तर है.'

– मो यान

यात्रा-कथा



श्रीलंका का पागल कर देने वाला सिंधु-सौंदर्य

● डॉ. श्रीराम परिहार

कतरगामम् में रात्रि विश्राम एक आश्रम में होता है. आश्रम मंदिर का एक हिस्सा है. मंदिर स्वामी कार्तिकेय, माता देवयानी और माता वलीम्मा का है. मंदिर की 700 एकड़ भूमि है; जिस पर कब्जा बौद्धों का है. बाबा कल्याणदास जी ने वर्षों पूर्व इस क्षेत्र में आकर मंदिर की सुरक्षा की है. कल्याणदास जी की परम्परा में इस मंदिर में कई संतों ने अपनी सेवा देकर जीवन अर्पण कर दिया है. वर्तमान में उस संत परम्परा में पूर्णानंद स्वामी जी हैं. मंदिर में और भी दो-चार सेवाभावी जन हैं. विशाल परिसर में स्वामी कार्तिकेय का मंदिर बना है. द्वार के दोनों ओर, द्वार के शीर्ष पर, मंदिर परिसर के परकोटे पर मयूर ही मयूर की आकृतियां हैं. मयूर कार्तिकेय का वाहन है. सम्पूर्ण श्रीलंका में यत्र-तत्र सर्वत्र मयूर नाचते-गाते-चलते-उड़ते देखे जा सकते हैं. यह क्षेत्र कार्तिकेय का है.

कार्तिक स्वामी जब कैलाश से चलकर इस क्षेत्र में आये तब उनका विवाह देवयानी से हो चुका था. यह क्षेत्र यक्षों, नागों और असुरों का था. उनका युद्ध एक शिकारी कबीले के सरदार से होता है. कार्तिक स्वामी उसे युद्ध में परास्त करते हैं. शिकारी की कन्या 'वली' रहती है. उससे कार्तिक स्वामी का विवाह होता है. वलीम्मा कार्तिकेय की दूसरी पत्नी है. अत: कार्तिकेय श्रीलंका के दामाद हैं. यहां के लोगों ने कार्तिक स्वामी को वापस भारत न जाने का आग्रह किया.